ज्ञान गरिमा के 79 वर्ष
भारतीय ज्ञानपीठ

इतिहास को लेकर हमारा नज़रिया अभी भी औपनिवेशिक है– माधव हाड़ा

मीरां के प्रसंग में संवाद माधव हाड़ा से असीम अग्रवाल की बातचीत

आलोचना और अकादमिक क्षेत्र चर्चित कृति 'पचरंग चोल पहर सखी री' (2015) मध्ययुगीन संत-भक्त कवयित्री मीरांबाई के जीवन और समाज पर एकाग्र थी, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'मीरां वर्सेज़ मीरां' 2020 में प्रकाशित हुआ और पर्याप्त चर्चा में रहा। यह कृति 32वें बिहारी पुरस्कार से सम्मानित भी हुई। इस कृति के लेखक प्रो. माधव हाड़ा अपनी सक्रियता के लिए विख्यात हैं। हाल में उन्होंने भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में दो वर्षीय अध्येतावृत्ति के अंतर्गत (2019-2021) 'पदमिनी विषयक देशज ऐतिहासिक कथा-काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कार्य किया, जो 'पद्मिनी : इतिहास और कथा-काव्य की जुगलबंदी' (2023) नाम से प्रकाशित हुआ है। उन्होंने 'कालजयी कवि और उनकी कविता' नामक एक पुस्तक शृंखला का संपादन किया है, जिसमें कबीर, रैदास, मीरां, तुलसीदास, अमीर ख़ुसरो, सूरदास, बुल्लेशाह और गुरु नानक शामिल हैं। उनकी अन्य प्रकाशित मौलिक कृतियों में 'देहरी पर दीपक' (2021), 'सीढ़ियाँ चढ़ता मीडिया' (2012), 'मीडिया, साहित्य और संस्कृति' (2006), 'कविता का पूरा दृश्य' (1992), 'तनी हुई रस्सी पर' (1987) और संपादित कृतियों में 'एक भव अनेक नाम' (2021) 'सौने काट ने लागै' (2021) 'मीरां रचना संचयन' (2017) 'कथेतर' (2016) और 'लय' (1996) शामिल हैं। मीरां पर प्रकाशित उनकी सद्य प्रकाशित कृति 'वैदहि ओखद जाणै' पर असीम अग्रवाल से बातचीत।

मीरां पर आपने पहले भी लिखा है। किताब 'वैदहि ओखद जाणै' की अलग से क्या ज़रूरत हुई?

यह किताब मीरां पर 2015 में प्रकाशित 'पचरंग चोला पहर सखी री' का ही विस्तार है। मीरां के संबंध में पश्चिमी विद्वता उपनिवेशकाल से लगाकर हमारे समय तक निरंतर सक्रिय है और ख़ास बात यह है कि इसका गहरा और व्यापक प्रभाव भारतीय विद्वता पर भी हुआ है। यह पुस्तक मीरां को उसकी अपनी सांस्कृतिक पारिस्थितिकी से अलग करके, पश्चिमी संस्कृति के मानकों आधार पर समझने-परखने के हुए प्रयासों की परख और पड़ताल है। भारतीय और पश्चिमी सांस्कृतिक बोध कुछ हद तक अलग हैं और इस कारण इनके इतिहास, साहित्य आदि अनुशासनों के रूप और मानक भी कुछ हद तक अलग ढंग से विकसित हुए, लेकिन मीरां पर विचार करने में पश्चिमी विद्वता ने इनको अपनी निगाह में नहीं लिया। अधिकांश पश्चिमी विद्वता ने मीरां की पहचान और और समझ बनाने में अपने सांस्कृतिक मानकों और कसौटियों का इस्तेमाल किया। मीरां की जो छवि इस क़वायद में बनी, वो उसकी लोक स्मृति और देशज स्रोतों में रची-बसी छवि से अलग, पश्चिमी सांस्कृतिक अनुभव, विचार और सैद्धांतिकी के खाद-पानी से बनी हुई छवि है।

पश्चिमी विद्वता ने भारतीय साहित्य और ज्ञान के अन्वेषण और पुनरुत्थान का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। ख़ासतौर पर उपनिवेशकालीन पश्चिमी विद्वानों का कुछ काम आज भी उपयोगी बना हुआ है। आप इस पर संदेह क्यों कर रहे हैं?

आपकी बात सही है। किताब में इस तरह कोई सरलीकरण नहीं है। इसमें पश्चिमी विद्वता की मंशा, मनोयोग और श्रम पर कोई संदेह नहीं है। सवाल के दायरे में केवल उसकी दृष्टि और संस्कार हैं। उपनिवेशकालीन आरंभिक पश्चिमी विद्वता का मीरां पर विचार जाने-अनजाने साम्राज्यवादी स्वार्थ से प्रेरित और प्रभावित था। यह सही है कि भारतीय संस्कृति और साहित्य का अन्वेषण और उस पर विचार करने वाले सभी उपनिवेशकालीन पश्चिमी विद्वान् एक जैसे नहीं थे, उनमें कुछ को यहाँ लगाव था, तो कुछ जिज्ञासावश भी यह काम रहे थे, लेकिन यह तय है जाने-अनजाने वे सभी साम्राज्य के हित में ही काम रहे थे। आरंभ में साम्राज्य की स्थिरता और निरंतरता के लिए अन्वेषण और विचार की जिस तरह की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन और मान्यता मिली, परवर्ती पश्चिमी विद्वता पर इनका गहरा असर बहुत बाद तक बना रहा। भारतीय समाज, परंपरा और संस्कृति को

मध्यकालीन भारतीय संदर्भ में यह बात ख़ासतौर पर और विचारणीय इसलिए है, क्योंकि यहाँ उस समय अनेक सांस्कृतिक इकाइयाँ थीं, जिनमें यूरोप की तरह कोई एकरूपता और संगति नहीं थीं। मध्यकाल में सांस्कृतिक वैविध्य इतना अधिक था कि इस सबंध में कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक निष्कर्ष निकालना बहुत मुश्किल काम है। यूरोप की तरह यहाँ कभी चर्च जैसी किसी प्रभावशाली और मान्य धार्मिक सत्ता का वर्चस्वकारी अनुशासन भी नहीं रहा, इसलिए भी यहाँ सांस्कृतिक मूल्य और साहित्यिक परंपराएँ एकरूप ढंग से विकसित नहीं हुईं।

लेकर यूरोप में कुछ पूर्वाग्रह थे, जिनका प्रभाव इस विद्वता भी साफ़ दिखता है। पश्चिम में भारत की छवि उस समय 'अद्भत' और 'ग़ैर भौतिक' की थी, इसलिए जाने-अनजाने उपनिवेशकालीन पश्चिमी विद्वता ने इसको पुष्ट करने का काम किया। मीरां पर सबसे पहले विचार करने वाले यूरोपीय विद्वान् कर्नल लेफ्टिनेंट जेम्स टॉड को यहाँ से लगाव था और कुछ हद तक वह यहीं का भी गया था, लेकिन उसने मीरां के स्त्री मनुष्य पर उसके स्त्री रूमानी, अद्भुत और ग़ैर भौतिक रूप को ही तरजीह दी। मीरां की प्रतिरोध की चेतना भारतीय समाज की गतिशीलता का एक रूप है, लेकिन भारतीय समाज के 'अपरिवर्तनशील' और 'ठहरे हुए होने' के पश्चिमी पूर्वाग्रह के कारण उसने इसको महत्त्व नहीं दिया। टॉड की विद्वता का ईस्ट कंपनी ने देशी राज्यों के साथ अपने संबंधों को मजबूत करने में रणनीतिक उपयोग भी किया। टॉड की राजपूतों के पराक्रम और शौर्य की कथाओं से कंपनी के मेवाड़-मारवाड़ से संबंध प्रगाढ़ हुए। बाद में मीरां पर विचार करने वाला हरमन गोएत्ज उपनिवेशकालीन नहीं था, लेकिन उसकी विद्वता ने औपनिवेशक विद्वता के प्रभाव में आकार लिया, इसीलिए उस पर इसका गहरा प्रभाव है। उनके यहाँ मीरां का मनुष्य एक समग्र मनुष्य होने के बजाय, संत-भक्त और मनुष्य में अलग-अलग बँटा हुआ दिखता है।

आपका मीरां को समझने का 'उनका-हमारा' वाला यह आग्रह क्या पुनरुत्थानवादी आग्रह नहीं है?

नहीं, ऐसा नहीं है। यह केवल इस धारणा और विश्वास पर ज़ोर देना है कि किसी भी देश-समाज की संस्कृति का विकास उस समाज की अपनी ख़ास ज़रूरतों के तहत होता है और यह जरूरतें किसी दूसरे देश और समाज की ज़रूरतों से अलग भी होती हैं। मध्यकालीन भारतीय संदर्भ में यह बात ख़ासतौर पर और विचारणीय इसलिए है, क्योंकि यहाँ उस समय अनेक सांस्कृतिक इकाइयाँ थीं, जिनमें यूरोप की तरह कोई एकरूपता और संगति नहीं थीं। मध्यकाल में सांस्कृतिक वैविध्य इतना अधिक था कि इस सबंध में कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक निष्कर्ष निकालना बहुत मुश्किल काम है। यूरोप की तरह यहाँ कभी चर्च जैसी किसी प्रभावशाली और मान्य धार्मिक सत्ता का वर्चस्वकारी अनुशासन भी नहीं रहा, इसलिए भी यहाँ सांस्कृतिक मूल्य और साहित्यिक परंपराएँ एकरूप ढंग से विकसित नहीं हुईं। यह सही है कि दो संस्कृतियों में कुछ मोटी समानताएँ हमेशा रहती हैं, लेकिन यह भी उतना ही सही है कि यूरोप और भारतीय, दोनों संस्कृतियाँ अलग-अलग ढंग से विकसित हुईं और इनमें कुछ भिन्नताएँ भी हैं। मीरां की लोक व्याप्ति का दायरा बहुत बड़ा है, लेकिन उसकी कविता जिस तरह के सीमित क्षेत्रीय सांस्कृतिक बोध में जन्म लेती है, वह वैश्विक तो क्या देशव्यापी भी नहीं है।

मीरां के ऐतिहासिक अस्तित्व के संबंध में प्रामाणिक स्रोत बहुत कम मिलते हैं। आपकी इस संबंध में क्या राय है?

देखिए, यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि इतिहास को लेकर हमारा नज़रिया अभी भी औपनिवेशिक है। राममनोहर लोहिया ने एक बार कहा था कि भारतीय इतिहास के साथ एक दिक्क़त यह है कि विजयी सेना के साथ आया हुआ कोई फ़रिश्ता या स्मिथ उसका स्वर निर्धारित करता है। मीरां के साथ भी यही हुआ- उसकी आरंभिक पहचान ही एक यूरोपीय विद्वान और प्रशासक जेम्स टॉड ने बनायी और उसकी यह पहचान अभी तक विमर्श में प्रभावी ही नहीं, हावी भी है। बाद में भी मीरां के जीवन की पहचान और समझ बनाने में पश्चिमी विद्वता ने अपनी 'हिस्ट्री' की कसौटी को सबसे आगे और सर्वोपरि रखा, जिसका भारतीय सांस्कृतिक अनुभव और परंपरा के संदर्भ में इस्तेमाल ही ग़लत है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पश्चिमी विद्वता के संबंध में एक जगह कहा था कि ये धान के खेतों में बैंगन तलाश करने वाले लोग हैं। और जब उन्हें वहाँ बैंगन नहीं मिलते हैं, तो फिर कुंठित होकर वे धान को अन्न की एक प्रजाति मानने से ही इनकार कर देते हैं। पश्चिमी विद्वता ने यही किया। मीरां उनकी 'हिस्ट्री' की कसौटी और मानकों पर खरी नहीं उतरी, तो उसने उसके होने को ही संदिग्ध कर दिया। मीरां लोक स्मृति में है, लोक स्मृति पर निर्भर दस्तावेज़ों में है और पारंपरिक और देशज इतिहास रूपों– ख्यात, बही, पाटनामा आदि में है, लेकिन यह पश्चिमी विद्वता की समझायी गयी और उनकी 'एप्रोप्रियटेड हिस्ट्री' में नहीं है, इसलिए वह नहीं है, यह प्रकार का दुराग्रह है।

आपने साहित्य अकादेमी और सस्ता साहित्य मंडल के

मीरां सदियों से हमारी स्मृति में है, वह सदियों से हमारा पड़ोस है, लेकिन उसे जानने-समझने और पाने के लिए प्रत्याख्यान का यह लंबा रास्ता लेना हमारी नियति है। सदियों से हमारे यहाँ रहा वर्चस्वकारी रही पश्चिमी विद्वता की कुछ धारणाओं के प्रतिवाद या प्रत्याख्यान की ज़रूरत है। अब स्वतंत्रता का हमारा अनुभव कुछ हद वयस्क हुआ है, इसलिए इसकी ज़रूरत ज्यादा महसूस होती है। यह इसलिए ज़रूरी है कि आम भारतीय में अपनी 'आत्म छवि' को पश्चिमी के नज़रिये से देखने-पहचाने का औपनिवेशिक संस्कार अब भी बद्धमूल है।

लिए मीरां की रचनाओं के संचयन भी किए हैं। कुछ विद्वानों का यह दावा है कि मीरां की उपलब्ध अधिकांश रचनाएँ अप्रामाणिक हैं। आपने रचनाओं के चयन क्या आधार रखा?

चयन का आधार आग्रहपूर्वक हमारी सदियों पुरानी देखी-परखी श्रुत और स्मृत परंपरा है। मीरां की अधिकांश रचनाएँ श्रुत-स्मृत पर निर्भर मौखिक परंपरा में हैं, लेकिन पश्चिमी विद्वता के अनुसार यह संदिग्ध है। उसको इनकी सदियों तक निरंतर उपलब्धता में सांप्रदायिक आग्रह, लैंगिक भेदभाव, ब्राह्मणवाद, हिंदी / हिन्दू राष्ट्रवाद जैसी साज़िशों की बू आती है। श्रुत और स्मृत की भारतीय मौखिक परंपरा बहुत प्राचीन है और यह सदियों से भारतीय बोध सांस्कृतिक बोध का अंग रही है। यह परंपरा सदियों के अभ्यास से अर्जित और इतनी अनुशासित है कि इस पर भरोसा न करना अटपटा लगता है। मीरां की रचनाओं की सदियों सदियों लिखित से मौखिक और मौखिक से लिखित में आवजाही हो रही है। इनमें हमारे लोक की ज़रूरतों के मामूली फेर-बदल हुआ है, अन्यथा इनको संदिग्ध मानने का कोई कारण नहीं है। लोक के बजाय सांप्रदायिक स्रोतों से आने वाली पांडुलिपीय साक्ष्यवाली रचनाओं में उलट-फेर ज़्यादा हुए हैं। कबीर की बीजक की रचनाओं का संप्रदायीकरण हुआ है।

मीरां की कविता में भाव और भाषा की संगति नहीं है। आप इसको किस तरह देखते हैं?

संगति और एकरूपता का आग्रह पश्चिमी विद्वता का आग्रह है। यह उनके सांस्कृतिक बोध में है। हमारी परंपरा अलग है। वैविध्य और बहुवचन भारतीय परंपरा और इसके सांस्कृतिक बोध में अंतर्निहित है। यहाँ साहित्यिक परंपराओं की निर्मिति में विविध प्रकार प्रेरणाएँ और प्रभाव सक्रिय रहे हैं और इस कारण इनमें वैविध्य है। यहाँ तक कि कई बार यह वैविध्य या विरोधाभासी और अंतर्विरोधपूर्ण होने की हद तक भी हैं। पश्चिम के सांस्कृतिक बोध में संगति और एकरूपता है, क्योंकि इसका विकास चर्च के अनुशासन में हुआ है। भारतीय सांस्कृतिक बोध इस तरह के किसी अनुशासन हमेशा बाहर रहा और प्रायः यह स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ। भक्ति आंदोलन तो भारतीय मनीषा की स्वातंत्र्य चेतना का विस्फोट है और स्वतंत्रता हमेशा बहुवचन में ही चरितार्थ होती है। मीरां की कविता भी स्वतंत्रता की चेतना की वाहक कविता है, इसलिए यह बहुवचन है।

मीरां को जानने-समझने में पश्चिमी विद्वता के प्रतिवाद की आपकी यह एप्रोच क्या बहुत नकारात्मक नहीं हो गयी है?

मीरां सदियों से हमारी स्मृति में है, वह सदियों से हमारा पड़ोस है, लेकिन उसे जानने-समझने और पाने के लिए प्रत्याख्यान का यह लंबा रास्ता लेना हमारी नियति है। सदियों से हमारे यहाँ रहा वर्चस्वकारी रही पश्चिमी विद्वता की कुछ धारणाओं के प्रतिवाद या प्रत्याख्यान की ज़रूरत है। अब स्वतंत्रता का हमारा अनुभव कुछ हद वयस्क हुआ है, इसलिए इसकी ज़रूरत ज्यादा महसूस होती है। यह इसलिए ज़रूरी है कि आम भारतीय में अपनी 'आत्म छवि' को पश्चिमी के नज़रिये से देखने-पहचाने का औपनिवेशिक संस्कार अब भी बद्धमूल है। वह आज भी इस बात को महत्त्वपूर्ण मानता है कि पश्चिमी विद्वता उसके बारे में क्या सोचती है। वह मानता ही नहीं है, उससे बहुत दूर और गहरे तक प्रभावित भी होता है। यह प्रभाव अपनी धारणाओं को बदल देने तक का नहीं होता हो, तब भी इतना होता ही है कि वह अपनी सदियों की मान्यताओं के प्रति 'शंकालु' हो जाता है। यह प्रत्याख्यान भी इसलिए है कि आम भारतीय मीरां के संबंध में अपनी सदियों से चली आ रही धारणाओं और मान्यताओं के प्रति मन किसी प्रकार संशय को जगह देने से पहले विचार करे। यह रास्ता ऐसा है, जिसमें ख़तरे बहुत हैं। पहला तो यही है कि पश्चिम की ओर की पीठ करके नहीं, उसको सामने रखकर उससे रूबरू होते हुए ही आगे बढ़ा जाना चाहिए, जो बहुत मुश्किल काम है। दूसरा यह कि 'उनका' और 'हमारा' की तरह का विभाजन एक प्रकार का सरलीकरण भी है, जिसमें आपके निष्कर्षों के एकतरफ़ा और अतिवादी होने की गुंजाइश रहती है। यह बातें यह किताब लिखते समय मन और ध्यान में तो रही है, लेकिन क्या हुआ है, यह अभी कहना बहुत मुश्किल काम है।